LL.B.4.Sem.

UNIT-5

INTERPRETATION OF STATUTES.

By.Banshlochan.Prasad.

Scanned with CamScanner

भारतीय संविधान का निर्वचन
(INTERPRETATION OF THE INDIAN CONSITUTION)
अध्याय-13
सामान्य (GENERAL)

संविधान या संवैधानिक विधि से तात्पर्य

संवैधानिक विधि से तात्पर्य उस आधारभूत–मूल और सर्वोच्च विधि से है जो किसी राष्ट्र–राज्य और उसकी सरकार की प्रकृति का वर्णन करती है और साथ ही साथ सरकार के विभिन्न अंगों–विधानमंडल, कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि का गठन, कार्य, उनके आपसी सम्बन्ध और उनका जनता के साथ सम्बन्धों का भी उल्लेख करती हैं अमेरिका इंग्लेण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत जैसे राष्ट्रों के संविधान संविधानवाद की भी स्थापना करते हैं। संविधानवाद प्रजातंत्र, स्वतन्त्र न्यायपालिका, न्यायिक पुनर्विलोकन, सत्ता का पृथक्कीकरण, विधि का शासन, मूल अधिकार, किसी राजनैतिक वाद रहित राष्ट्र या सरकार, धार्मिक सहिष्णुता, राज्य–ईकाइयों की स्वायत्तता आदि तत्वों का सारतत्व होता है। संविधानवाद में विधितः स्वयं संविधान और राजनैतिक रूप से स्वयं प्रजा सर्वोपरि होती है। न कि सरकार का कोई अंग या समाज का कोई धर्म। यह सीमित सरकार का पक्षधर है।

संवैधानिक विधि और साधारण कानूनों में अन्तर

संविधान एक सर्वोच्च मूल विधि है। अन्य सभी साधारण कानून संविधान से निम्न स्तर के और संविधान के अनुरूप होते हैं। वे सब–सिविल आपराधिक, संविदात्मक, अपकृत्य, प्रशासकीय, प्रक्रियात्मक, प्रथा वा धार्मिक विधियाँ अपनी वैधता, अनुशास्ति, अस्तित्व और आदर संविधान से प्राप्त करती हैं। यदि ये नॉर्म्स हैं तो संविधान ग्रन्डनॉर्म है। नदी स्वरूप साधारण कानून संविधान रूपी महासमुद्र में समाये हुये होते हैं। यह उपधारणा है कि सभी साधारण कानून संविधान के अनुकूल होते हैं। प्रतिकूल होने पर उन्हें असंवैधानिक–शून्य करार दिया जा सकता है। संविधान साधारण कानूनों से अधिक व्यापक, गतिशील , स्थायी और नम्य माना गया है। (देखें जेनेग्सि–दी लॉ एण्ड दी कान्सटिट्यूशन)[1] । जस्टिस हिगिन्स के अनुसार संविधान एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत कानून बनाये जाते हैं। यह मात्र अधिनियम नहीं है जो केवल

Scanned with CamScanner

यह घोषणा करता हो कि कानून क्या है। (ए0जी0फार न्यू साऊथ वेल्स राज्य v. न्यू साऊथ ब्रेवरी कर्मचारी संघ 1908)[2]।

संवैधानिक निर्वचन और साधारण कानूनों के निर्वचन में अन्तर

क्रेज के अनुसार,, संविधान और साधारण कानूनों के निवर्चन के नियम अलग–नहीं हैं।[3] भारतीय संविधान के अनुच्छेद 367(1) के अनुसार, "जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो और अनुच्छेद 372 के अन्तर्गत किये गये अनुकूलनों और उपान्तरणों–adaptation and modifications के आधीन रहते हुये, इस संविधान के निर्वचन में साधारण खंड अधिनियम (1897) लागू होगा।" इससे भी प्रतीत होता है कि सामान्यतः दोनों के निर्वचन नियम अलग–अलग नहीं हैं। दोनों प्रकार के कानूनों में शाब्दिक, स्वर्णिम, रिष्टि निवारक, उदार, अधिनियम को ससंदर्भ पूरा पढ़ना चाहिये, विभिन्न सूत्र, उपधारणायें, हितप्रद, सामन्जस्य पूर्ण, कठोर निर्वचन आदि नियमों का यथास्थिति प्रयोग किया जाता है।

परन्तु कई कारणों से संविधान के अर्थान्वयन में अन्य नियमों का भी प्रयोग किया जाता है।

जस्टिस होम्स के अनुसार, संविधान के प्रावधान गणित के फार्मूले नहीं होते। वे शाश्वत–जीवन्त संस्था की भांति हैं। इसलिये उनका अर्थान्वयन करते समय संविधान के प्रादुर्भाव और विकास रेखा पर विशेष ध्यान देना चाहिये।[4]

संविधान का अर्थान्वयन करते समय यह भाव हमेशा ध्यान में रहना चाहिये कि एक सर्वोच्च मूल विधि जो सीमित सरकार की स्थापना करती है, का निर्वचन किया जा रहा है (मैक कुलॉक v. मेरीलैण्ड[5] में मुख्य न्यायाधीश मार्शल के अनुसार)। जिससे राजनैतिक सत्ता किसी एक व्यक्ति, संस्था या समुदाय में एकीकृत न हो पाये और निरंकुश, तानाशाही व अराजकतावादी शक्तियों–प्रवृतियों को प्रश्रय न मिल पाये।

भारत के फेडरल न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ग्वेयर (री, सी0पी0 बरार सेल्स ऑफ मोटर स्प्रिरिट एण्ड लुबरीकेन्टस टेक्सेशन अधिनियम 1938)[6] और लार्ड राइट (जेम्स v. कॉमनवेल्थ ऑफ आस्ट्रेलिया 1936)[7] के मतों से प्रभावित होते हुये भारतीय उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश कानिया ने ए0के0 गोपालन v. मद्रास राज्य 1950 में कहा है कि संविधान का निर्वचन संकुचित धारणा या पांडित्य प्रदर्शन हेतु न करके, व्यापक और उदार दृष्टिकोण से इस प्रकार करना चाहिये कि उसके सभी भागों–प्रावधानों को समुचित और प्रभावी अर्थ मिल सके।[8] संविधान निर्माताओं का उद्देश्य संवैधानिक प्रावधानों में विसंगति उत्पन्न करने का नहीं रहा है। वे किसी भी प्रावधान को प्राणहीन–जड़ करने fossilized के पक्षधर नहीं थे। गुडइयर इण्डिया v. हरियाणा राज्य 1990 में यह कहा गया कि सभी कानूनों मे सविधान एक जीवंत और चैतन्य कानून होने के कारण अधिक व्यापक और उदार निर्वचन का दावेदार है।[9] जिससे

Scanned with CamScanner

व्यवहारिक रूप से राष्ट्रीय विकास और औद्योगिककरण के परिवर्तनशील वातावरण को आत्मसात किया जा सके। (सिन्थेटिक एण्ड केमिकल्स लि० v. उ0प्र0 राज्य 1990)[10]

परन्तु उदार निर्वचन की आड़ में संवैधानिक प्रावधानों को पूर्णतया बदलना या पुनर्लेखन नही करना चाहिये। (सुप्रीमकोर्ट ऐडवोकेट ऑन रिकार्डसंघ v. भारतसंघ 1993)[11]

प्रीवीपर्सवाद (1971) और साकल चन्द (1977) वादो में यह कहा गया कि संवैधानिक निर्वचन केवल भाषायी या व्याकरणीय शब्द रचनाकारों की भांति शब्दकोष रूपी दुर्ग में रहकर नही करना चाहिये। इसके प्रावधानों का संसदर्भ अर्थान्वयन करना चाहिये–क्योंकि अंततोगत्वा संवैधानिक निर्वचन प्रक्रिया संविधान के प्रावधानों में "मूल्यों" का अध्ययन है।[12]

गोपालन वाद में उच्चतम न्यायालय का यह भी मत रहा है कि संविधान के अर्थान्वयन में न्यायाधीश अपने तर्कों–विचारों की पुष्टि संविधान सभा में हुये वाद–विवाद या भाषणों के उद्धहरणों से कर सकते हैं। परन्तु उनके आधार पर निर्णय नहीं दे सकते क्योंकि संविधान के शब्द ही संविधान निर्माताओं का आशय प्रकट करते हैं। इसी प्रकार बिहार राज्य v. कामेश्वर 1952[13] में यह कहा गया कि संविधान की मायावी भावना–spirit के आधार पर निर्वचन नही किया जाता। संविधान की भावना उसके शब्दों पर हावी नहीं हो सकती।

संविधान का निर्वचन करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इसमें प्रयुक्त कोई भी शब्द व्यर्थ, अनावश्यक या अर्थहीन नहीं होता। (US v. Butler)[14]

इस स्थान पर उच्चतम न्यायालय के विभिन्न निर्णयों की समीक्षा सम्भव नहीं है। इतना ही संकेत दिया जा सकता है कि न्यायालय ने आरम्भिक काल में संविधान का संयमित निर्वचन किया। तद्उपरान्त, न्यायिक सक्रियतावाद का परिचय दिया और वर्तमान में दोनों संयमित और सक्रियता का परिचय दे रहा है। हैबियस कॉरपस वाद न्यायालय की भीरूता का तो केशवानंद वाद न्याय का राजनैतिककरण का परिचायक है। केशवानंद और एडवोकेटस ऑन रिकार्ड संघ वादों में संविधान के प्रावधानों का पुनर्लेखन भी किया गया तो अनुच्छेद 124(3)(C) को अप्रचलित, मृतप्राय, जड़ कर रखा है।

Scanned with CamScanner

B- भारतीय संविधान–भाग XI अध्याय I का निर्वचन
(Principles of Interpretation of Chapter I Part XI of the Indian Constitution)

निर्वचन की आवश्यकता के कारण

भारतीय संविधान का भाग XI अध्याय I अनुच्छेद 245–255 और उनसे सम्बन्धित सप्तम अनुसूची में वर्णित संघसूची, राज्यसूची, समवर्ती सूची संघ और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों–विषयों का वितरण करती हैं। यूँ तो यह वितरण अपने आप में व्यापक और स्पष्ट है और संदिग्धता की स्थिति में राज्यविधि पर संघीय विधि के अभिभावी होने का उल्लेख करता है, फिर भी, केन्द्र–राज्यों या व्यक्ति–केन्द्र या राज्यों के मध्य इन शक्तियों–विषयों से सम्बन्धित विवाद उत्पन्न होते ही रहते हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं जैसे कि राजसत्ता की स्वाभाविक प्रकृति कि यह वैध–अवैध रूप से, जाने–अनजाने में, गौण–व्यापक रूप में व्यक्तियों और संस्थाओं पर हावी होती रहती है। दूसरे, राजसत्ता का कोई भौतिक रूप नें होने के कारण, इसका Watertight Division स्पष्ट, स्थायी और अन्तिम विभाजन असम्भव हैं तीसरे, लोककल्याणकारी राज्य में राजसत्ता का कार्यकारी विस्तार स्वाभाविक रूप से होता रहता है। और चौथे, एक राज्य के व्यक्ति का निवास और सम्पत्ति दूसरे राज्य में भी स्थित हो सकती है। परिणाम स्वरूप, केन्द्र–राज्य दोनों ही एक–दूसरे की विधायी शक्ति–विषयों की सीमाओं का अतिक्रमण करते रहते हैं। ऐसे आशिंक, अनुषांगिक, परोक्ष, अप्रत्यक्ष अतिक्रमण को युक्तियुक्तता का आवरण पहनाने के लिये और दोनों में सामन्जस्य स्थापित करने हेतु उच्चतम न्यायालय प्रीवी कौंसिल द्वारा प्रति पादित निर्वचन के कुछ सिद्धान्तों–नियमों का सहारा लेता है। जैसे कि क्षेत्रीय सम्बन्ध का सिद्धान्त, सारतत्व का सिद्धान्त, छदम विधायन का सिद्धान्त असंगति का सिद्धान्त

Scanned with CamScanner

(6) सार तत्व का सिद्धान्त

(Doctrine of Pith and Substance)

तात्पर्य

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 246 खंड(1) संसद को सातवीं अनुसूची की पहली सूची–संघसूची में प्रगणित 97 प्रविष्टियों–विषयों पर विधि अधिनियमित करने को अधिकृत करता है। इसी अनुच्छेद का खंड(2) तीसरी सूची–समवर्ती सूची के 66 विषयों पर संसद और राज्यों–दोनों को विधि रचना के लिये सशक्त करता है। खंड(3) के अनुसार, दूसरी सूची–राज्यसूची में वर्णित 47 विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार राज्य विधान मंडलों को है। खंड(4) के अनुसार, संघ प्रशासित क्षेत्रों के लिये, संसद संघसूची, समवर्ती सूची और राज्य सूचियों में उल्लिखित सभी विषयों पर या अन्य किसी नये विषय पर विधि रचना के लिये सक्षम है। अनुच्छेद 248 के अनुसार, उपरोक्त तीनों सूचियों से अवशिष्ट नये–पुराने विषयों पर कानून बनाने के लिये अनन्य रुप से केवल संसद ही सशक्त है।

संसद और राज्य विधान मण्डलों का संवैधानिक दायित्व है कि वे अपने विषय क्षेत्र में ही सीमित रहते हुये विधि रचना करें अर्थात एक दूसरे के विधि निर्माण क्षेत्र–विषय में अतिक्रमण न करें। फिर भी, संसद या राज्य विधान मंडल एक दूसरे के विषय क्षेत्र का अनायास या परिस्थिति अनुसार, आनुषांगिक, अप्रत्यक्ष, परोक्ष या दूरस्थ–थोड़ासा अतिक्रमण कर देते हैं। ऐसी विधियों के निर्वचन में न्यायालय उन्हें वैधानिक चोला–आवरण पहनाने के लिये सार–तत्व सिद्धान्त का सहारा लेता है। न्यायालय के अनुसार, यदि संसद या राज्य विधान मंडल ने मूल रूप से सारतः अपने ही विधायी विषय क्षेत्र में विधि बनायी है परन्तु वह विधि आनुषांगिक रूप से एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण करती है तब भी, वह अधिकार क्षेत्र में Intra vires ही समझी जायेगी। उसे अधिकारातीत, करार नहीं दिया जायेगा। अन्यथा अधिकांश विधियों को अवैध घोषित करना पड़ेगा। ऐसी विधियों के सार–तत्व को समझने के लिये न्यायालय सम्पूर्ण विधि के प्रकृति–प्रभाव यानी उसके उद्देश्य, प्रावधान, क्षेत्र आदि पर दृष्टिपात करता है। एकाध प्रावधान मात्र पर नहीं। इस प्रकार, सारतत्व सिद्धान्त सूचियों के निर्वचन में उदारता–नम्यता लाता है। (ए0एस0कृष्णा v. मद्रास राज्य 1960[2]; चतुरभाई पटेल v. भारतसंघ 1957[3]; अतियाबारी चाय क0 v. असम राज्य 1961[4]; गुजरात राज्य v. शान्तिलाल मंगलदास 1969[4] ।)

भारत में, सारतत्व के सिद्धान्त को प्रीवी कौंसिल के आस्ट्रेलियायी वा कनाडा के संविधानो के निर्वचन नियमों से अपनाया है। हमारे यहाँ पर यह सिद्धान्त राज्य विधियों का अधिक सहारा है। संसद को तो स्वयं संविधान जैसे कि अनुच्छेद 246(1)(2)(3), 247, 248, 249,

Scanned with CamScanner

250, 251, 252, 253 आदि राज्य सूची में अतिक्रमण कर, यथास्थिति, उसमें विधि–रचना का अधिकार प्रदान करता है। ये अनुच्छेद राज्यों पर केन्द्र की सर्वोपरिता स्थापित करते हैं। हॉचेस्ट–फर्मास्युटिकल्स लि० v. बिहार राज्य 1983[5] के अनुसार, सार तत्व सिद्धान्त द्वारा भी सामन्जस्य स्थापित न होने की अवस्था में ही उक्त अधिष्ठायी प्रावधानों का प्रयोग करना चाहिये।

सारतत्व सिद्धान्त से सम्बन्धित प्रमुख वाद

प्रफुल्ल कुमार v. बैंक ऑफ कामर्स, खुलना 1947 [6]

इस वाद में बंगाल राज्य विधानमंडल ने बंगाल मनी लेण्डर अधिनियम 1940 द्वारा किसानों पर उधार धन की ब्याज सीमा सीमित और निश्चित कर दी। ऋणदाता महाजनों ने कलकत्ता उच्चन्यायालय में इसके विरूद्ध वाद दायर करते हुये कहा कि उक्त अधिनियम को पारित करने का बंगाल विधानमंडल को कोई अधिकार क्षेत्र प्राप्त नहीं है। क्योंकि यह विषय संघ सूची की प्रविष्टि 28 में–प्रोमिजरी नोट आदि, होने के कारण संघ के अधिकार क्षेत्र में आता है। परन्तु उच्च न्यायालय ने उनके विरूद्ध निर्णय दिया। तत्कालीन फेडरल न्यायालय ने उनके पक्ष में निर्णय दिया। प्रीवी कौंसिल ने उच्च न्यायालय के निर्णय को ठीक मानते हुये निर्वचित किया कि सारतत्व में मामला राज्यसूची की प्रविष्टि 27 का है–जो धन उधार देने से सम्बन्धित है। यह केवल आनुषांगिक रूप से ही संघसूची से जुड़ा प्रतीत होता है। अतः अधिनियम अधिकार क्षेत्र में है न कि उससे बाहर–The Act is intravires and not the ultravires. प्रीवी कौंसिल ने यह भी महत्वपूर्ण बात कही कि तीनों सूचियों का निर्वचन करते समय संघसूची को राज्यसूची से अधिक महत्व देना चाहिये और इसी प्रकार समवर्ती सूची को भी राज्यसूची से अधिक प्राथमिकता देनी चाहिये। भारतीय उच्चतम न्यायालय प्रीवी कौंसिल के उक्त निर्णयाधार का अभी तक अनुसरण करता चला आ रहा है।

बम्बई v. बलसारा 1951 [7]

इस वाद में बम्बई मद्यनिषेध अधिनियम 1949 को भी वर्तमान राज्यसूची की प्रविष्टि 8 जो शराब उत्पादन, रख–रखाव और क्रय–विक्रय का उल्लेख करती है के अन्तर्गत अधिनियमित करार दिया गया। न कि संघसूची की प्रविष्टि 41 में जो विदेश में शराब के आयात–निर्यात की चर्चा करती है। सारतत्व के आधार पर ही संसदीय औद्योगिक विवाद अधिनियम जो राज्यों की नगरपालिका मजदूर कर्मचारियों पर भी लागू होता था, को बनर्जी v. मुकर्जी 1953[8] में वैध माना गया।

राजस्थान राज्य v. चावला 1959 [9]

उक्त वाद में राजस्थान विधानमंडल ने राज्यसूची की प्रविष्टि 6 जो लोक स्वास्थ्य व स्वच्छता का उल्लेख करती है, के अन्तर्गत ध्वनि विस्तारक यन्त्रों के प्रयोग को बन्द कर दिया

Scanned with CamScanner

क्योंकि वे शोर प्रदूषण फैलाते थे। जबकि पोस्ट, टेलीग्राम, वायरलेस, प्रसारण वा संचार के अन्य संघसूची की प्रविष्टि 31 में वर्णित है। उच्चतम न्यायालय ने अधिनियम के सारतत्व उद्देश्य प्रावधान आदि को ध्यान में रखकर उसे राज्यसूची के अन्तर्गत ही माना।

इस्माइल फारुकी v. भारतसंघ 1995 [10]

फारुकी वाद में संसदीय अधिनियम 1993 को–जो अयोध्या के कुछ भूमि क्षेत्र के अर्जन से सम्बन्धित था, वैध माना गया क्योंकि सारतत्व में यह भूमि अधिग्रहण विषय समवर्ती सूची में है न कि राज्यसूची के लोक व्यवस्था विषय से सम्बन्धित।

इलेल होटल्स एण्ड इन्वेस्टमेन्ट लि० v. भारतसंघ 1989[11]; *जे०एन० खाचर v. गुजरात राज्य 1995*[12]; *कस्तूरीलाल हरलाल v. उ०प्र० राज्य 1981*[13]; *उजागर प्रिन्टस v. भारतसंघ 1989*[14] आदि वादों में यह कहा गया कि सूचीयों के निर्वचन में व्यापक उदारता न कि संकीर्ण–सीमित दृष्टिकोण अपनाना चाहिये।

Scanned with CamScanner

(7) छद्म विधायन
Calourable Legislation

आधुनिक युग संविधानवाद का युग है जिसमें आधुनिक राज्यों, सरकारों की राजसत्ता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लिखित संविधान, व्यक्तियों के मूल अधिकार, शक्ति प्रथक्करण, केन्द्र–राज्यों में शक्ति वितरण, प्रजातंत्र, न्यायिक पुनर्विलोकन, विधि का शासन, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आदि द्वारा नियमित और सीमित कर दी गई हैं। ऐसे में, जब कोई विधानमंडल अधिकारिता के बहाने छद्म, गुप्त, अप्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अधिकारिताहीन विधायन करता है तो सम्बन्धित विधायन का निर्वचन करते समय न्यायालय ऐसे कपट का पर्दाफाश करके उसे छद्म या कपटी विधायन की संज्ञा प्रदान करता है या उसे संविधान के साथ कपट कहकर असंवैधानिक घोषित करता है। यदि विधायन सरासर, खुल्लम–खुल्ला, प्रत्यक्षतः अधिकारिताहीन, है तो उसे अधिकारातीत कहकर असंवैधानिक घोषित कर दिया जाता है। किसी विधायन को छद्म घोषित करते समय न्यायालय विधानमंडल के अच्छे–बुरे हेतु–Motive पर विचार न करके अधिनियम के यथार्थरूप–साररूप का आकलन करता है। छद्म विधायन इस सूत्र पर आधारित है कि जिस कार्य को सीधे–प्रत्यक्षतः करने पर रोक है उसे अप्रत्यक्षतः भी नहीं किया जा सकता। सूचीयों के निर्वचन में पहले सारतत्व का और उसके बाद ही छद्म विधायन सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहिये।

छद्म विधायन सिद्धान्त सारतत्व सिद्धान्त से कहीं अधिक व्यापक है। सारतत्व तो केवल केन्द्र–राज्यों के मध्य विधायी शक्ति वितरण से ही सम्बन्धित है। परन्तु छद्म विधायन ऐसी प्रत्येक विधि को कहा जा सकता है जो संविधान या संविधानवाद के प्रतिकूल है। जैसे कि मूल अधिकारों के प्रतिकूल विधियाँ।

स्वार्थ, कायरता, धन और पद लोलुपता के कारण यह भी सम्भव है कि विधि निर्माता सांसद–विधायकगण और न्यायाधीश आपस में मिलकर संविधानवाद या व्यक्तियों के मूल अधिकारों के प्रतिकूल विधि रचना और उनका निर्वचन करें। ऐसे में, संविधानवाद के सजग प्रहरियों को छद्म निर्वचन के प्रति सजग रहना चाहिये। दूसरे शब्दों में, छद्म विधायन के साथ–साथ छद्म निर्वचन की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

छद्म विधायन सम्बन्धित वादों के उदाहरण

बेली v. ड्रेक्सल फर्नीचर कम्पनी 1922 ' नामक अमेरिकन वाद में अमेरिकन कांग्रेस ने वहाँ के बालश्रम अधिनियम के अन्तर्गत प्रावधान किया कि यदि नियोक्ता एक निर्धारित आयु के एक या अधिक बालकों को जानबूझकर सेवा में नियुक्त कर के श्रम करवाता है तो उस

Scanned with CamScanner

नियोक्ता के वार्षिक लाभ पर 10% कर आरोपित किया जा सकता है। न्यायालय ने निर्णित किया कि कांग्रेस को बालश्रम पर कर आरोपण की न तो कोई अधिकारिता है और न ही कर के बहाने किसी पर आर्थिक दंड ही आरोपित करने की शक्ति है। बालश्रम पर कर लगाना राज्य विधा ानमंडलों की अनन्य अधिकारिता है। अतः कांग्रेस का ऐसा विधायन छद्म–असंवैधानिक है।

के०सी० गजपति नारायन देव v. *उड़ीसा राज्य 1953* [2] के प्रमुख वाद में भारतीय उच्चतम न्यायालय ने अपीलार्थी का यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि उडीसा कृषि आयकर संशोधन अधिनियम 1950 द्वारा कृषि आयकर की दर अधिक बढ़ा देने मात्र के आधार पर इस अधिनियम को छद्म विधायन करार दे दिया जावे। क्योंकि कृषि आयकर लगाना स्पष्टतः राज्यसूची की प्रविष्टि 46 के अन्तर्गत है। आरोपित आयकर कम या अधिक उचित या असाम्य होना अलग बात है और कर लगाने की शक्ति ही नही होना, दूसरी बात है। बिना विधायन शक्ति के अप्रत्यक्ष विधायन पर ही छद्म विधायन सिद्धान्त लागू होता है। अतः उक्त संशोधन अधिनियम वैध है।

के०टी० मोपिल नायर v. *केरल राज्य 1961* [3] में ट्रावनकोर कोचीन भूमिकर अधिनियम 1955 के द्वारा कर अधिक ही नहीं अपितु आय से भी अधिक यानी एक व्यक्ति की भूमि से 3100रूपये प्रतिवर्ष की आय पर व्यवहारतः 5400रूपये कर लगाया गया था। उच्चतम न्यायालय ने निर्वचित किया कि यह कर आरोपण नही, कर आरोपण के बहाने सम्पत्ति अधिहरण है और संविधान के अनुच्छेद 14 और 19(1) (F) के प्रतिकूल है। यह छद्म विधायन है।

बिहार राज्य v. कामेश्वर सिंह 1952 [4] में बिहार भूमि सुधार अधिनियम 1950 वहाँ जमीदारी प्रथा समाप्त करता है। जमींदारों को मिलने वाले लगान का आधा हिस्सा धारा 4(ख) के अन्तर्गत बिहार राज्य को बिना मुआवजा–क्षतिपूर्ति दिये प्राप्त करने का प्रावधान था। उच्चतम न्यायालय ने इसे भी छद्म विधायन कहा क्योंकि यह बिना क्षतिपूर्ति सम्पत्ति अधिहरण का अप्रत्यक्ष तरीका है।

Scanned with CamScanner

(8) असंगति का सिद्धान्त
(Rule of Repugnancy)

असंगति के सिद्धान्त का उदभव एवं तात्पर्य ⇒

भारतीय संविधान के भाग XI के अध्याय I अर्थात केन्द्र और राज्यों के मध्य विधायी सम्बन्ध के प्रावधानों के सन्दर्भ में निर्वचन का असंगति का सिद्धान्त अनुच्छेद 251 और अनुच्छेद 254 में निहित है। इन दोनों अनुच्छेदों के पार्श्व टिप्पणों में असंगति Inconsistency शब्द का प्रयोग हुआ है तो इन अनुच्छेदों के अन्दर विरोध repugnancy शब्द का उल्लेख किया गया है। दोनों स्थानों पर उन्हें संविधानसभा ने पारित किया है। अतः दोनों शब्दों Insconsistency and repugnancy का अर्थ भी एक ही यानी असंगति ही है।

अनुच्छेद 251 और 254 को हमारे संविधान में भारत सरकार अधिनियम 1935 की धाराओं क्रमशः 103 और 107 से अपनाया गया है। जबकि भारत सरकार अधिनियम में उक्त धारायें कनाडा के संविधान से अपनायी गई हैं। इसलिये उनके अर्थान्वयन में प्रीवी कौंसिल के सम्बन्धित निर्णय अधिक उपयोगी हो सकते हैं। न कि अमेरिका या आस्ट्रेलियायी न्यायालयों के निर्णय जो दखलकृतक्षेत्र सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। दखलकृत क्षेत्र **Occupied Field** से तात्पर्य है कि यदि केन्द्रीय विधानमंडल अमेरिकन कॉंग्रेस या आस्ट्रेलियायी कॉमनवेल्थ ने दखल करके किसी क्षेत्र-विषय पर विधि निर्माण की शक्ति हथियाली है तो उन क्षेत्र-विषयों पर राज्य विधानमंडल के असंगत कानून-प्रावधान स्वतः ही शून्य माने जायेंगे। यह सिद्धान्त भारत में लागू नहीं होता। क्योंकि हमारे यहाँ दखल का प्रश्न नहीं उठाया जाता। यहाँ संविधान में पहले से ही तीन सूचीयों-संघ, राज्य और समवर्ती सूचियों द्वारा विस्तारपूर्वक केन्द्र-राज्यों के बीच शक्ति वितरण कर दिया गया है और अवशिष्ट मामलों में संसद को विधि निर्माण के लिये अधिकृत कर दिया गया है। अतः उसे किसी विषय-क्षेत्र पर दखल करने की आवश्यकता ही नही है।

भारत में असंगति का सिद्धान्त प्रचिलित है। असंगति से तात्पर्य है कि-केन्द्र और राज्यों की विधायी शक्ति-विषय-वस्तु के अन्तर्गत उनकें द्वारा निर्मित कानून के प्रावधानों में प्रत्यक्ष-सीधी असंगति और असंगति की मात्रा तक राज्यविधि-प्रावधान का शून्य होना तथा केवल संसदीय विधि प्रावधान का अभिभावी-लागू होना है। ऐसी असंगति का विस्तृत विश्लेषण सम्बन्धित अनुच्छेदों और न्यायिक निर्णयों से ही सम्भव है।

अनुच्छेद 251

इस अनुच्छेद के अनुसार, यदि राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि के किसी प्रावधान

Scanned with CamScanner

और अनुच्छेद 249–250 के अन्तर्गत राज्यसूची में निर्मित संसदीय विधि के प्रावधान के बीच असंगति है तो असंगति की मात्रा तक राज्य विधि–का प्रावधान अप्रवर्तनीय Inoperative होगा और केवल संसदीय विधि ही अभिभावी वा लागू होगी। अनुच्छेद 249 के अन्तर्गत संसद तब कानून बना सकेगी जब राज्यसभा एक संकल्प पारित करके राष्ट्रीय हित में राज्यसूची में कानून बनाने के लिये संसद को अधिकृत कर दे।

अनुच्छेद 250 के अनुसार, संविधान के भाग XI के अध्याय I में किसी बात के होते हुये भी आपातकाल की घोषणा जारी रहने की अवधि दौरान संसद राज्यसूची में कानून बनाने को अधिकृत होगी। उक्त दोनों अनुच्छेदों के अन्तर्गत निर्मित संसदीय विधि अस्थायी होती है। अतः उनसे असंगत राज्यविधि के प्रावधान केवल अप्रवर्तनीय ही होंगे। शून्य नहीं। क्योंकि अस्थायी संसदीय विधि समाप्त होने के उपरान्त उससे असंगत राज्यविधि पुनः जीवित होकर लागू हो सकती है।

अनुच्छेद 254

इस अनुच्छेद के दो खंड हैं और दूसरे खंड का एक परन्तुक भी है। इन तीनों का सम्यक् पठन आवश्यक है। तत्पश्चात ही उनकी समीक्षा और निर्वचन अभीष्ट है। खंड(1) (अनुच्छेद 254) के अनुसार, यदि किसी राज्य विधानमंडल के एक कानून का कोई प्रावधान संसदीय कानून के किसी प्रावधान, जिसे अधिनियमित करने के लिये संसद सक्षम है, के, या–समवर्ती सूची में प्रगणित किसी विषय के सम्बन्ध मे विद्यमान विधि के किसी प्रावधान के विरूद्ध हैं, तो खंड (2) के अधीन रहते हुये, यथास्थिति, विद्यमान विधि या संसदीय विधि चाहे वह राज्य विधि से पहले या बाद में पारित की गई हो, अभिभावी होगी और विरोध की मात्रा तक राज्यविधि शून्य होगी।

खंड(2) (अनुच्छेद 254) के अनुसार, समवर्ती सूची के अन्तर्गत निर्मित राज्यविधि का कोई ऐसा प्रावधान है जो राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित किया गया था और इसे राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई हो और वह संसद द्वारा पहले या उसके बाद बनायी गई विधि के प्रावधानों के या उस विषय के सम्बन्ध में किसी विद्यमान विधि के विरूद्ध है, तो उस राज्य में उक्त प्रकार की राज्यविधि अभिभावी होगी। परन्तु इस खंड की कोई बात संसद को ऐसी राज्यविधि में कुछ परिवर्धन, परिवर्तन, संशोधन या निरसन करने से निवारित नहीं करेगी।

अनुच्छेद 254 के उपरोक्त दोनो खंडों में विद्यमान विधि Existing Law का उल्लेख आया है। अनुच्छेद 366 के अनुसार विद्यमान विधि से तात्पर्य ऐसे किसी...

Scanned with CamScanner

लागू है।

राज्यविधि और संसदीय विधि में असंगति की आवश्यक शर्तें

अनुच्छेद 254(1) के निर्वचन से सम्बन्धित उच्चतम न्यायालय के अधिकांश निर्णयों जैसे कि :-

जावेर भाई v. बम्बई राज्य 1954[1],

दीपचन्द v. उ0प्र0 राज्य 1959[2],

एम0 करूणानिधि v. भारतसंघ 1979[3],

होचेस्ट फर्मास्युटिकल्स लि0 v. बिहार राज्य 1989[4]

(1) वादों के अनुसार, राज्य विधि और संसदीय विधि में असंगति की पहली शर्त यह है कि दोनों विधियाँ समवर्ती सूची के अन्तर्गत निर्मित हो और दोनों ही–संसद और राज्यविधान मंडल उन कानून के प्रावधानों को बनाने के लिये सक्षम हो। क्योंकि अनुच्छेद 254 के दोनों खंडों में समवर्ती सूची का ही उल्लेख है। परन्तु गुजरात विश्वविद्यालय v. श्रीकृष्ण, 1963[5] के निर्णय अनुसार, राज्यसूची के अन्तर्गत निर्मित राज्यविधि और संसदीय विधि–प्रावधानों में भी असंगति हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात विश्वविद्यालय में किया गया निर्वचन अधिक व्यापक, सार्थक और युक्तियुक्त है। कारण, अनुच्छेद 254 (1) में ......संसद सक्षम है के बाद विराम चिन्ह तथा *या* शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस खंड के वाक्य के अंशों को एक दूसरे से अलग करते हैं। विराम चिन्ह यद्यपि निर्वचन का सार्थक आन्तरिक सहयोगी नहीं होता परन्तु "या" शब्द प्रयोग निश्चित ही दो वाक्यांशों को अलग करता है। फिर, संसद अनुच्छेद 252/253 के अन्तर्गत भी राज्यसूची में कानून बनाने के लिये सक्षम है। यदि इन अनुच्छेदों के अन्तर्गत निर्मित संसदीय विधि एवं राज्य विधि में असंगति हो तो किसकी की विधि अभिभावी होगी? कौन सी विधि अप्रवर्तनीय या शून्य और किस मात्र तक होगी? इन प्रश्नों का हल गुजरात विश्वविद्यालय निर्णय से तो सम्भव है कि यदि संसद राज्य या समवर्ती या दोनों ही सूचीयों में विधि निर्माण हेतु सक्षम है और उसकी विधि और राज्यविधि में प्रत्यक्षतः असंगत है, तो असंगति की मात्रा तक राज्य विधि शून्य होगी। जावेर भाई, दीपचन्द्र, करूणानिधि या होचेस्ट वाद निर्णयों द्वारा उक्त प्रश्नों के उत्तर नहीं दिये जा सकते। तीसरे, अनुच्छेद 254 के खंड (1) को इसी के खंड (2) के अधीन रखना तथा समवर्ती सूची में निर्मित विशिष्ट प्रकार की राज्यविधि को प्राणदान देना अर्थहीन है। एक छलावा है। क्योंकि इसका ही परन्तुक इसी पर अधिष्ठायी हो रहा है तथा संसद को सशक्त कर रहा है कि चाहे तो संसद उक्त प्रकार की राज्यविधि का अंत भी कर सकती है।

(2) असंगति की दूसरी शर्त यह है कि राज्यविधि ओर संसदीय विधि एक ही क्षेत्र–विषय पर बनाई गई हो तथा लागू होती हों।

(3) तीसरी शर्त यह है कि–राज्य विधि और संसदीय विधि के प्रावधान विशेष प्रत्यक्षतः

Scanned with CamScanner

सीधे एक दूसरे के इस प्रकार विरूद्ध हो कि वे किसी भी सूरत में एक साथ नहीं रह सकते। मात्र सतही, दूरस्थ, कृत्रिम, या आनुषांगिक असंगति पर्याप्त नहीं है।

(4) संसदीय विधि का यह आशय स्पष्ट होना चाहिये कि जिस क्षेत्र–विषय पर राज्यविधि निर्मित है, ठीक उसी विषय–क्षेत्र पर संसद विस्तृत संहिता निर्मित कर रही है।

असंगति का परिणाम–विवक्ष निरसन

अनुच्छेद 254 के अन्तर्गत संसदीय विधि और राज्यविधि में दूर न हो सकने वाली प्रत्यक्ष असंगति का परिणाम–असंगति की मात्रा तक राज्यविधि–प्रावधान का शून्य होना या उसका विवक्ष निरसन Implied repeal होना तथा संसदीय विधि का अभिभावी होना है। विवक्ष निरसन न्यायालय द्वारा तब घोषित किया जाता है जब दो परस्पर प्रतिकूल विधियाँ एक ही क्षेत्र में प्रत्यक्षतः असंगत हों। यदि वे एक साथ रखी जायें तो बेतुकी अर्थहीन लगती हों या एक ने दूसरे की विषय वस्तु पूर्णतया छीनकर उस पर अभिभावी हो गयी हो।

Scanned with CamScanner

(A) सामन्जस्यपूर्ण अर्थान्वयन
(HARMONIOUS CONSTRUCTION)

तात्पर्य

किसी कानून के सम्पूर्ण अध्ययन से यह पता लग जाता है कि उसके प्रावधान या प्रावधान के खंड परस्पर विरोधी–एक दूसरे के प्रतिकूल–असंगत हैं या नही। यदि हैं तो न्यायालय को चाहिये कि *सर्वप्रथम यथासम्भव* परस्पर विरोधी प्रावधानों–खंडों का सामन्जस्यपूर्ण अर्थान्वयन करे। सामन्जस्यपूर्ण अर्थान्वयन से तात्पर्य है कि यथासम्भव विरोधाभास को समाप्त करते हुये परस्पर विरोधी प्रावधानों का विभिन्न क्षेत्रों में समुचित–समान, व्यापक या विशिष्ट, या अधिक या कम प्रभाव या उपयोगिता बनाये रखना। नकारात्मक शब्दों में कहा जाये तो परस्पर असंगत प्रावधानों का अर्थान्वयन ऐसा न हो कि एक प्रावधान को पूरा महत्व दे दिया जावे और दूसरे को मृत, उपेक्षित, निरर्थक, निरसित या अक्रियान्वित घोषित कर दिया जावे। जब किसी भी तरह–भरसक प्रयत्न करने के उपरान्त भी, निर्वचन सामन्जस्यपूर्ण न हो पाये तब ही अन्ततः असंगति के सिद्धान्त–Rule of Repugnancy का प्रयोग करना चाहिये। अन्यथा नहीं। (सुल्ताना बेगम v. प्रेम चन्द्र जैन 1997)'

असंगति एक ही अधिनियम के प्रावधानों–खंडों के अलावा दो–अधिनियमों और प्रशासकीय आदेशों–नियमों में भी हो सकती है। अतः उनका भी यथासम्भव सामन्जस्यपूर्ण–तारतम्यतापूर्ण अर्थान्वयन करना चाहिये।

सामन्जस्यपूर्ण अर्थान्वयन निर्वचन के विभिन्न सिद्धान्तों, नियमों, कहावतों और उपधारणाओं के प्रयोग का 'परिणाम' है।

सामन्जस्यपूर्ण अर्थान्वयन के पीछे मूल उपधारणा यह है कि–अधिनियम के प्रत्येक प्रावधान के पीछे विधानमंडल का कोई न कोई आशय–उद्देश्य अवश्य होता है। विधानमंडल कभी भी निरर्थक निष्प्रभावी–महत्वहीन, अनुपयुक्त और परस्पर प्रतिकूल विधायन नहीं करता। ऐसा नही होता कि विधानमंडल एक हाथ–प्रावधान से कुछ दे और दूसरे से वापस ले ले।

सामान्यतः न्यायालय यह सिद्ध करते हुये सामन्जस्यपूर्ण अर्थान्वयन करते हैं कि परस्पर विरोधी प्रावधान भिन्न–भिन्न मामलों, क्षेत्रों या परिस्थितियों में लागू होते हैं या एक प्रावधान तो साधारण कानून है और दूसरा विशिष्ट, अपवाद या परन्तुक है।

भारतीय उच्चतम न्यायालय ने भारतीय संविधान में मूल अधिकारों वा राज्य की नीति

Scanned with CamScanner

के निर्देशक तत्वों से सम्बन्धित प्रावधानों और सप्तम अनुसूची की तीन–संघ, राज्य वा समवर्ती सूचियों के संदर्भ में सामन्जस्यपूर्ण अर्थान्वयन करने की चेष्टा की है।

सामन्जस्यपूर्ण अर्थान्वयन सम्बन्धित वाद–उदाहरण

1. *शंकरी प्रसाद* v. *भारतसंघ 1951*[2]

उच्चतम न्यायालय ने इस वाद में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 13(2) और 368 में तथाकथित विरोधाभास को दूर करने की चेष्टा करते हुये अभिनिर्णित किया कि अनुच्छेद 368 में संसद को संशोधन करने का अनन्य अधिकार है और अनुच्छेद 13(2) (3) सीमित है। अनुच्छेद 13(2)(3) में उल्लिखित शब्द "विधि" से तात्पर्य सामान्य विधायी विधि मात्र है। इसमें संशोधन विधि समाविष्ट नहीं है अतः संसद अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संशोधन करके मौलिक अधिकारों को समाप्त या कम कर सकती है। इस निर्वचन को गोलकनाथ वाद में अस्वीकार कर दिया गया था। परन्तु केशवानंद वाद में पुनर्जीवित कर दिया गया जो अभी तक प्रभावी है।

2. *पन्नालाल सेन* v. *लक्ष्मीसोना 1952*[3]

इस वाद में यह कहा गया कि सिविल प्रक्रिया संहिता C.P.C. की धाराओं, आदेशों वा नियमों (Section, orders & Rules.) का निर्वचन करते समय में सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये।

3. *पंजाब राज्य* v. *अजायब सिंह 1953*[4]

अजायब सिंह वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्णित किया कि अनुच्छेद 22(1) (2) के अन्तर्गत बिना वारंट के गिरफ्तार व्यक्ति को उपलब्ध मौलिक अधिकार कि उसे 24 घंटो के अन्दर निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जावेगा, उस व्यक्ति को प्राप्त नहीं होगा जो "भगाये गये व्यक्ति की प्राप्ति वा सुपुर्दगी अधिनियम" 1949 की धारा 4 के अन्तर्गत बरामद करके पुलिस अभिरक्षा में है। जहाँ प्रावधानों के दो अर्थ निकलते हों वहाँ वही अर्थ ग्रहण करना चाहिये जो संविधान को सरस–सामन्जस्य रूप में लागू करता हो। न कि वह जो असंगति या कठिनाई को जन्म देता हो।

4. *राजकृष्ण* v. *विनोद कानूनगो 1954*[5]

विनोद कानूनगो वाद में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की धारा 33(2) और 123(8) में असंगति का प्रश्न उठाया गया। धारा 33(2) में एक सरकारी कर्मचारी को निर्वाचन में किसी प्रत्याशी का नाम प्रस्तावित और अनुमोदित करने का अधिकार है। जबकि धारा 123(8) में उसे वोट डालने के अलावा अन्य किसी प्रकार की सहायता करने की प्रत्यक्षतः मनाही है। सामन्जस्य पूर्ण अर्थान्वयन करते हुये उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्णित किया कि किसी निर्वाचन में सरकारी कर्मचारियों को तीनों अधिकार–प्रत्याशी को मत देने, उसका नाम प्रस्तावित वा अनुमोदित करने

Scanned with CamScanner

के अधिकार हैं। अर्थात् न्यायालय ने दोनों धाराओं को 'समान' महत्व प्रदान किया।

5. टीकाराम जी v. उ0प्र0 राज्य 1956 [6]

इस वाद में "उ0 प्र0 गन्ना अधिनियम" को इस आधार पर न्यायालय में चुनौती दी गई कि राज्य सरकार को ऐसा कानून बनाने की अधिकारिता नहीं है। क्योंकि गन्ना विषयी चीनी उद्योग एक नियन्त्रित उद्योग होने के कारण संघ वा समवर्ती सूचियों की प्रविष्टियाँ क्रमशः 52 वा 33 के अन्तर्गत हैं–जहाँ संसद ही निर्णायक विधि बना सकती है। सामन्जस्यपूर्ण निर्वचन करते हुये न्यायालय ने निर्णय दिया कि तृतीय संशोधन 1954 के द्वारा और राज्य सूची की प्रविष्टि 23 में गन्ना "माल" होने के कारण राज्य गन्ना उत्पाद, आपूर्ति वा वितरण सम्बन्धित कानून बनाने में सक्षम है।

6. वैंकटरमन देवारू v. मैसूर राज्य 1958 [7]

देवारू वाद में उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 25(2) (b) और 26(b) के विरोधाभास का निराकरण करते हुये अभिनिर्णित किया कि अनुच्छेद 26(b) में विभिन्न धार्मिक समुदायों की अपने मामलों की स्वयं व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता अनुच्छेद 25(2)(b) के अर्थात, राज्य विधि द्वारा सामाजिक हित में हिन्दू धर्म के सभी स्थलों को सभी वर्गों–जातियों के लिये खोलने के अधीन है।

7. एम0 एस0 एम0 शर्मा v. श्री कृष्ण सिन्हा 1959 [8]
और री केशव सिंह वाद 1964 [9]

उपरोक्त वादों में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19(1) और अनुच्छेद 194(3) में तथा अनुच्छेद 21,32,226 और 194(3) के मध्य विसंगति अर्थात, वाक्–अभिव्यक्ति के मूल अधिकार और संसदीय विशेषाधिकार तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता, संवैधानिक उपचारों के मूल अधिकार और संसदीय विशेषाधिकार में व्याप्त विसंगति का सामन्जस्य पूर्ण अर्थान्वयन करते हुये निर्णित किया गया कि वाक् अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता एक साधारण स्वतन्त्रता है। यह विशिष्ट संसदीय विशेषाधिकारों के अधीन है। परन्तु संसदीय विशेषाधिकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं कर सकते।

8. के0 एम0 नानावती v. बम्बई राज्य 1961 [10]

इस वाद में संविधान के अनुच्छेद 142 और 161 में व्याप्त विरोधाभास को दूर किया गया। दोनों अनुच्छेदों का महत्व वा प्रभाव बनाये रखते हुये यह निर्णित किया गया कि अनुच्छेद 161 में राज्यपाल की क्षमादान की पूर्ण शक्ति का प्रयोग उस समय नहीं किया जायेगा जब उससे सम्बन्धित कोई आपराधिक वाद उच्चतम न्यायालय में लम्बित हो।

9. राजस्थान राज्य v. गोपी कृष्ण सेन 1992 [11]

Scanned with CamScanner